International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 26-12-2025; Accepted: 25-01-2026; Published: 09-02-2026
Volume 12, Issue 1, 2026, Page No. 204-207

समकालीन हिंदी कविता का परिदृश्य

डॉ. पूनम कुमारी
भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विष्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश
समकालीन हिंदी कविता आधुनिक हिंदी साहित्य की वह जीवंत धारा है, जो अपने समय के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ निरंतर संवाद करती रही है । सामान्यतः 1970 अथवा 1975 के बाद की कविता को 'समकालीन' कहा जाता है, किंतु यह पद केवल काल–सूचक न होकर एक जटिल साहित्यिक–सांस्कृतिक अवधारणा के रूप में सामने आता है । समकालीनता किसी निश्चित तिथि, प्रवृत्ति या शैली में सीमित नहीं की जा सकती, बल्कि यह रचनाकार की समय–सापेक्ष संवेदनशीलता, वैचारिक सजगता और रचनात्मक हस्तक्षेप से अर्जित होती है । यह लेख समकालीन हिंदी कविता की अवधारणा, उसके ऐतिहासिक विकास, वैचारिक आधारों तथा आलोचनात्मक विवादों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है । इसमें 1970 के बाद उभरी जनवादी–प्रगतिशील चेतना, 1990 के बाद की बदलती सामाजिक संरचनाओं तथा 2000 के बाद सामने आई नई कवि–पीढ़ी की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान दिया गया है । लेख यह भी रेखांकित करता है कि समकालीन कविता केवल प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रतिरोध तक सीमित नहीं, बल्कि वह भाषा, शिल्प, लोक–संवेदना और निजी अनुभवों के माध्यम से भी अपने समय की जटिल सच्चाइयों को अभिव्यक्त करती है । इस प्रकार समकालीन हिंदी कविता वर्तमान का आलोचनात्मक दस्तावेज़ होने के साथ–साथ भविष्य की सांस्कृतिक संभावनाओं की ओर संकेत करने वाली सशक्त साहित्यिक विधा के रूप में उभरती है ।

मूल शब्दः समकालीनता, हिंदी कविता, जनवादी कविता, आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता, कविता आलोचना, समय–बोध, लोक–संवेदना, नई पीढ़ी के कवि

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के इतिहास में 'समकालीन कविता' एक ऐसा पद है, जिसने जितना व्यापक प्रयोग पाया है, उतनी ही अधिक वैचारिक अस्पष्टता भी उत्पन्न की है। यह शब्द अपने भीतर समय–बोध, सामाजिक यथार्थ, वैचारिक चेतना और रचनात्मक नवीनता—इन सभी को समेटे हुए है, किंतु इसके बावजूद इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा आज तक सुनिश्चित नहीं हो सकी है। साहित्यिक विमर्श में यह प्रश्न बार–बार उठता रहा है कि आखिर समकालीन कविता किसे कहा जाए—क्या केवल वर्तमान में लिखी जा रही कविता समकालीन है, या वह कविता जो अपने समय के संघर्षों, विडंबनाओं और अंतर्विरोधों से गहरे स्तर पर टकराती है?

स्वतंत्रता के बाद हिंदी कविता ने कई महत्वपूर्ण मोड़ देखे। छायावादोत्तर दौर, प्रगतिशील आंदोलन, नई कविता और जनवादी कविता—इन सभी धाराओं ने अपने–अपने समय की संवेदना को अभिव्यक्त किया। किंतु 1970 के बाद का समय भारतीय समाज के लिए एक निर्णायक कालखंड सिद्ध हुआ। यह वह दौर था जब राजनीतिक अस्थिरता, आपातकाल, सामाजिक आंदोलनों, श्रमिक संघर्षों और हाशिए के वर्गों की आवाज़ ने साहित्य को गहराई से प्रभावित किया। इसी संदर्भ में हिंदी कविता ने भी अपने स्वर, भाषा और दृष्टि को बदला । समकालीनता को केवल 'नवीनता' या 'आधुनिकता' के पर्याय के रूप में देखना एक सरलीकरण होगा। वरिष्ठ कवि राजेश जोशी के अनुसार, समकालीनता एक सतत प्रक्रिया है, जिसे हर रचनाकार को अपने समय के साथ मुठभेड़ करते हुए अर्जित करना पड़ता है। इस दृष्टि से समकालीन कविता वह है, जो न केवल वर्तमान की घटनाओं को दर्ज करती है, बल्कि सामाजिक संरचनाओं में हस्तक्षेप भी करती है। आलोचना के स्तर पर भी समकालीन कविता को लेकर अनेक मतभेद रहे हैं। कुछ आलोचक इसे अत्यधिक व्यक्तिवादी और निराशावादी मानते हैं, तो कुछ इसे प्रतिरोध की नई और सूक्ष्म भाषा के रूप में देखते हैं। बाजार, पुरस्कार संस्कृति और मीडिया की भूमिका ने भी समकालीन कविता की प्रकृति को प्रभावित किया है। इन जटिलताओं के बीच समकालीन हिंदी कविता को समझना केवल साहित्यिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और वैचारिक आवश्यकता बन जाता है। इसी संदर्भ में प्रस्तुत लेख समकालीन हिंदी कविता के परिदृश्य का एक समग्र और आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है, जिसमें विभिन्न पीढ़ियों के कवियों, प्रमुख प्रवृत्तियों और वैचारिक अंतर्द्वंद्वों को समझने का प्रयास किया गया है।

मूल आलेख

हिंदी की समकालीन कविता पर विचार करते हुए ज्यादातर कवियों एवं समीक्षकों ने यह स्वीकार किया है कि सन 1970 या सन 1975 के बाद की हिंदी कविता को समकालीन कहा जाना चाहिए। कुछ विचारकों अथवा लेखकों की राय में 'समकालीन' शब्द सन 1950 या सन 1960 के बाद ही व्यवहार में आ गया था। दरअसल 'समकालीनता' को कायदे से परिभाषित करने की कोशिश नहीं की गई है। इस शब्द या पद की मनचाही और मनमानी व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती रही हैं। हिंदी के आज के एक वरिष्ठ कवि राजेश जोशी का मानना है कि 'समकालीनता' एक ऐसा पद बन गया है जिसे अपनी सुविधा के लिए चाहो तो रबर की तरह तान लो या नसवार की डिबिया की तरह बहुत छोटा कर लो। राजेश जोशी ने समकालीनता पर विचार करते हुए एक महत्वपूर्ण स्थापना दी है। वे लिखते हैं कि—'अपने समय के साथ मुठभेड़ करते हुए, उसमें हस्तक्षेप करते हुए, हर रचनाकार को अपनी समकालीनता स्वयं अर्जित करनी होती है। समकालीनता सिर्फ रचना की अन्तर्वस्तु से जुड़ा प्रश्न नहीं है, यह शिल्प और भाषा का भी प्रश्न है । शिल्प और भाषा के पुरानेपन के साथ एक नई अन्तर्वस्तु लेकर की गई रचना समकालीन नहीं बन सकती । समकालीनता एक निजी काव्य मुहावरा नहीं है, जिसे एक बार साधकर हमेशा के लिए काम चलाया जा सके ।..... समकालीनता को अर्जित करना और करते रहना एक सतत प्रक्रिया है । अगर यह प्रक्रिया किसी रचनाकार में रुक जाती है या रचनाकार ही उसके प्रति उदासीन

हो जाता है, तो बहुत संभव है कि अपने समय में सबसे अधिक समकालीन रहा रचनाकार रचनारत रहते हुए भी देखते–ही–देखते अपनी अगली पीढ़ी के रचनाकारों के लिए और रचना–परिदृश्य के लिए समकालीन न रह जाए। सुमित्रानंदन पंत अपनी सृजनात्मकता के उत्तरार्द्ध में उसी तरह समकालीन नहीं रह पाए जैसे वे छायावाद के दौर में थे! लेकिन ठीक–ठीक यही बात निराला जी पर नहीं लागू होती'। (आलोचना, अक्टूबरदृ दिसंबर 2005, पृष्ठ–32)

पिछले दशक में या कुछ साल पहले समकालीन कविता पर जो आलोचनात्मक लेख छपते रहे हैं, उनमें 'समकालीन' शब्द–पद को कम–से–कम व्यवहार में लाया जाता रहा है। इसी तरह 'प्रगतिशील', 'प्रगतिवादी', 'नवप्रगतिवादी', 'जनवादी', 'नवजनवादी' या 'नक्सलबाड़ी' की कविता जैसे विशेषण–पदों का चलन भी न के बराबर रह गया है। अब कविता को दशकों में बाँटकर विमर्श का तरीका भी कम होता जा रहा है। आज की ताजातरीन आलोचना में इन पदों से बचने या परहेज़ करने की एक सायास कोशिश भी हो रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उपर्युक्त शब्द इधर की कविता को जानने–बूझने के लिए नाकाफ़ी हो या अपनी विशेषता की चमक खो बैठे हो। आज समकालीन शब्द–पद न सिर्फ हिंदी कविता के लिए, बल्कि गद्य–पद्य के समस्त प्रकारों एवं विधाओं के लिए एक लोकप्रिय विशेषण बन गया है।

सन 1970 के आसपास कई तरह के झाड़–झंखाड़ों से भरे रास्तों को साफ़ करती हुई 'जनवादी' कविता सामने आई। उस दौर में भी 'समकालीन' शब्द–पद चलन में बना रहा। दरअसल यह शब्द–पद वर्तमान समय का भी बोध कराता रहा है। यह किसी भी 'वाद' या 'आंदोलन' के संकीर्ण वैचारिक दायरे से बाहर हो जाता है। इसका प्रयोग हर तरह के विचारों या विचारधाराओं से जुड़े लोग करते रहे है। 'समकालीन' पद परंपरावादियों, आधुनिकतावादियों और मार्क्सवादियों के यहाँ समान रूप से व्यवहृत होता रहा है। यह दीगर बात है कि समकालीन कविता को कुछ लेखक–अध्यापक मार्क्सवादी या जनवादी कविता तक कह डालते हैं। दरअसल 'नयी कविता' में जिस तरह से दो धाराएँ रही हैं, उसी तरह 'समकालीन कविता' के भीतर भी दो धाराएँ रही हैं। एक धारा प्रगतिशील–जनवादी' कविता की है, तो दूसरी धारा आधुनिकतावादियों कलावादियों या रूपवादियो की रही हैं। जो भी हो इधर की आलोचना 'समकालीन' पद को भी रूढ़ मानकर इससे बचने की कोशिश कर रही है, ताकि उसके विचार, उसकी विश्लेषण पद्धति के टटकेपन को या नयेपन को दर्शाया जा सके। इस लिहाज से कहा जाये, तो इधर की कविता पर इधर की आलोचना कुछ नए औजारों के साथ कार्य कर रही है। ऐसी आलोचना मात्रा में कम है, लेकिन उसमें भाषा की नवीन भंगिमाएं और कुछ बिल्कुल नए मुहावरे दिखाई पड़ने शुरू हो गए हैं। ऐसी काव्यालोचना की कसौटी पर न तो कलावादी आग्रहों की छाप है, न ही किसी दलीय संकीर्ण विचारधारा की। यह भी कम दिलचस्प बात नहीं है कि इधर की कविता के प्रतिमानों की खोज का प्रयत्न करने वाले संयोग से कवि ज़्यादा हैं। कवियों में भी सन 1970 और सन 1980 के बाद के कुछ कवि हैं। मसलन, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, अरुण कमल, लीलाधर मंडलोई, विनोद दास, पंकज चतुर्वेदी आदि के नाम सामने आते हैं। इनके पिछले दशक या कुछ साल पहले छपे आलोचनात्मक लेखों को देखा जाए, तो उनमें 'समकालीन' के बदले 'आज की कविता', 'वर्तमान कविता', 'कठिन समय की कविता', 'युवा कविता', 'इधर की कविता', 'रिक्त स्थानों की कविता', 'अभी बिल्कुल अभी आ रही नयी पीढ़ी की कविता', कहने–लिखने का चलन जोर पकड़ रहा है। यानी यह स्पष्ट है की 'समकालीन' या पिछले तीन–चार दशकों के भीतर लोकप्रिय अन्य विशेषणों ने अपनी चमक या तेजस्विता खोयी है। उनमें रूढ़ियों ने प्रवेश कर उनके अर्थ को सीमित कर दिया है। यही कारण है कि रूढ़ियों का पर्याय बने इन पदों और विशेषणों को इधर की आलोचना तज रही है। वरिष्ठ कवि कुंवर नारायण 'समकालीन' को लेते भी हैं, तो लिखते हैं– 'समकालीन युवा कविताएं', लीलाधर मंडलोई 'समकालीन' को कोष्ठक में लिखते हैं, आलोचक शंभू गुप्त 'समकालीन' को आत्मसंघर्ष से जोड़कर देखते हैं– मुक्तिबोध की तर्ज़ पर। मंगलेश डबराल सन 1990–91 के हिंदी कविता–परिदृश्य पर बात करते हुए उसे 'रिक्त स्थानों की कविता' कहते हैं। उनका मानना है कि पूर्ववर्ती कवियों ने कविता में कई 'रिक्त स्थानों' को छोड़ा है। इन्हीं रिक्त स्थानों को भरने का 'एजेंडा' आज के कवियों के सामने है। मंगलेश डबराल को यह भी एहसास है कि 'आज उनके बीच कोई महाकवि या बड़ा कवि नहीं है'। वह लिखते हैं कि 'राजनीति या संस्कृति के सत्ता–केन्द्रों, प्रतिष्ठानों और अनुष्ठानों या महानगरों जैसे केंद्रीकृत स्थलों से दूर छोटी–छोटी जगहों और हाशियो में लिखी जा रही इस कविता के ग्राफ में ऊचाईयां–नीचाईयां या उठाने–ढलाने नहीं हैं, जो बड़े कवियों की कविताओं की विशेषता मानी जाती है; बल्कि उनमें समतल हैं, विस्तार हैं बढ़ते हुए और 'वर्टिकल' की बजाय 'हॉरिजॉन्टल' समय है'।

इसी तरह विनोद दास सन 1990–95 के बाद की कविता पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उसे 'निर्जीव' और 'निर्वीर्य' साबित करते हैं। इसी तरह एक बुजुर्गवार हिंदी आलोचक खगेंद्र ठाकुर अपने इंटरव्यू में कहते हैं कि 'इधर की कविता मनुष्य में साहस का संचार नहीं करती। वह सत्तोन्मुख, नगरोन्मुख, अमरीकोन्मुख हो गयी है। इसी तरह लीलाधर मंडलोई इधर की कविता को व्यक्तित्वहीन और दिशाहीन मानते हैं।

कहना ही होगा कि इधर की काव्यालोचना में अराजकता ज्यादा बढ़ी है। जिस तरह से खराब या रद्दी कविताओं के अम्बार में अच्छी कविता दब या गुम हो गई है; उसी तरह से अच्छी आलोचना का चेहरा बुरी आलोचना से ढंका हुआ है। काव्य या आलोचना के इस वर्तमान परिदृश्य को विकृत या बदरंग बनाने में छोटे–बड़े पुरस्कारों की भूमिका भी कम नहीं है।

बहरहाल, सन 1970 के बाद हिंदी की समकालीन कविता के परिदृश्य पर कई पीढ़ियों और धाराओं के नये–पुराने कवि उपस्थित दिखाई देते हैं । इन कवियों में दिनकर, महादेवी वर्मा, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, सुमन, नरेश मेहता, कुंवरनारायण, केदारनाथ सिंह, जगदीश गुप्त, श्रीकांत वर्मा, धूमिल, भगवत रावत, सोमदत्त, सर्वेष्वर दयाल, अशोक वाजपेयी, चंद्रकांत देवताले, लीलाधर जगूड़ी, सौमित्र मोहन, कैलाश वाजपेयी के साथ–साथ नागार्जुन, केदार, शमशेर, त्रिलोचन, रघुवीर सहाय, विजेन्द्र, ऋतुराज, नरेश सक्सेना, विनोदकुमार शुक्ल आदि भी सक्रिय थे। सन 1970 के आसपास हिंदी कविता में प्रगतिशील–जनवादी चेतना की पुनर्वापसी हो रही थी। वह सामाजिक जीवन–यथार्थ और संघर्षों से जुड़ रही थी। उसमें सामान्य जीवन के स्वप्नों, उनकी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति होने लगी। इस नए प्रगतिशील और वाम–जनवादी दौर में कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, वेणुगोपाल, आलोक धन्वा, गोरख पांडेय, ज्ञानेन्द्रपति, वीरेन डंगवाल, मंगलेश डबराल की नयी पीढ़ी सामने आयी। इस पीढ़ी पर नक्सल आंदोलन का भी प्रभाव था। ये कवि कान्ति के स्वप्न और विजन से जुड़े थे। इनमें व्यवस्था के प्रति गुस्सा और आक्रोश कविताओं के जरिए सामने आ रहा था । इन कवियों के पीछे ही कुछ समयान्तराल पर सन 1971–72 के आसपास अरुण कमल, राजेश जोशी, उदयप्रकाश, राजेन्द्र शर्मा, नरेन्द्र जैन, विष्णु नागर, असद जैदी आदि समकालीन काव्य परिदृश्य पर नयी पीढ़ी के रूप में सक्रिय होते हैं। इन नए कवियों ने नागार्जुन, केदार, शमशेर, त्रिलोचन के काव्य से काफी कुछ सीखने का प्रयत्न किया। इस तरह से कहा जाये, तो इस नयी काव्य परिघटना ने, जिसके मूल में प्रगतिशील वाम–जनवादी चेतना का नया उभार था; नयी पृष्ठभूमि थी– 'कई वरिष्ठ कवियों

को किनारे लगा दिया'। उस दौर में वाम चेतना से जुड़ना समकालीनता की पहचान का मुहावरा बन गया। दिनकर, अज्ञेय, भारती, नरेश मेहता सरीखे महत्वपूर्ण कवि अपना असर खोने लगे। सन 1978 में अज्ञेय द्वारा संपादित चौथा सप्तक ऐतिहासिक घटना में तब्दील नहीं हो पाया। ये कवि अपनी प्रासंगिकता खो बैठे। ठीक इसके बरअक्स नागार्जुन, केदार, शमशेर, त्रिलोचन, रघुवीर सहाय, सर्वेष्वर दयाल समकालीन कविता के केंद्र में आ गए। यहां तक कि कुछ पहले दिवंगत कवि मुक्तिबोध भी नए कवियों के प्रेरक बने। सन 1971–72 के आसपास या इसके बाद की पीढ़ी के कवियों में वाम–विचारधारा के प्रति विशेष आग्रह या प्रतिबद्धता का दृष्टिकोण परिलक्षित किया जा सकता है। हालांकि यह भी सच है कि जिस तरह से सन 1936 के बाद प्रगतिशील आंदोलन के दबाव में ज्यादातर वैचारिक, फेनिल और झागदार कविताएं लिखी गयी, उसी तरह से सन 1970 के बाद नये प्रगतिशील–जनवादी दौर में भी आक्रोश की फेनिल और झागदार कविताएं लिखी गयी। आलोक धन्वा, वेणुगोपाल आदि की कविताएं इस बात की साक्षी हैं। इनके कुछ बाद कविता लिखना शुरू करने वाले राजेश जोशी, अरुण कमल, उदय प्रकाश आदि में एक वैचारिक और कलात्मक संतुलन दिखाई पड़ता है। ऐसे ही इब्बार रब्बी, विष्णु नागर, असद जैदी या फिर दिनेश कुमार शुक्ल, ज्ञानेन्द्रपति की कविताएं भी छोटे–छोटे जीवन प्रसंगों की अभिव्यक्तियों को सामने लाती हैं। सन 1975 के बाद ही हिन्दी कविता शिल्प और अन्तर्वस्तु के स्तर पर बदलने लगती है। कविता में घर, परिवार, बच्चे, फूल, चिड़िया, पेड़, पत्नी की वापसी होने लगती है। समाजिक यथार्थ के बरअक्स कविता में व्यक्ति के रोजमर्रा के छोटे–छोटे सुखों–दु:खों की, जीवन के उपेक्षित कोने–अंतरे की अभिव्यक्तियां होने लगती हैं। इसी दौर में स्वप्निल श्रीवास्तव सरीखे कवि आते हैं। दरअसल, स्वप्निल सन 1970 के दशक के आखिरी छोरे के कवि हैं।

सन 1980 से सन 1985 के भीतर भी करीब दो दर्जन नये कवि कविता के परिदृश्य पर उभरते दिखाई देते हैं। इन कवियों में कुमार अम्बुज, एकांत श्रीवास्तव, देवी प्रसाद मिश्र, संजय चतुर्वेदी, हरीश चन्द्र पांडे, बद्रीनारायण, निलय उपाध्याय, विमल कुमार, बोधिसत्व, हेमंत कुकरेती, प्रमोद कौसवाल, मोहन राणा, प्रतापराव कदम, कात्यायनी, नरेश चंद्रकर, अनामिका, गगन गिल, तेजी ग्रोवर, निर्मला गर्ग, नासिर अहमद सिकंदर, सुल्तान अहमद, अनिल गंगल, गोविंद माथुर, हरिओम राजोरिया, मोहन डहेरिया, विनय विष्वास आदि के नाम शामिल हैं। इन कवियों से कुछ उम्रदराज कवि मदन कश्यप, लीलाधर मंडलोई, विनोद दास की सक्रियता भी इसी दौर में सामने आती है। ये तीनों कवि भी नवें दशक में ही पहचान बनाते हैं। सन 1990–91 में सोवियत रूस का पतन हुआ और वैष्विक स्तर पर नई परिघटनाएँ सामने आई। इसका असर हिन्दी कवियों की कविताओं पर भी पड़ा। साम्यवादी देश सोवियत रूस के बिखरने के बाद पूरी दुनिया में वाम–आंदोलन और विचारधारा से जुड़े लेखकों–कवियों के सामने एक तरह की विकल्पहीनता की स्थिति पैदा हुई। कई नए–पुराने कवि के स्वर बदले, सुर बदले। कल तक जो क्रांति की चेतना से लबरेज और प्रतिबद्ध थे, वे सहसा शोकाकुल हो उठे। वे सच्ची निराशा और उदासी की बात करने लगे। ऐसे विभ्रम, संशय और दुविधाग्रस्त माहौल में नवें दशक के कुछ कवियों ने अपने को आंचलिक, स्थानीय अथवा जनपदीय भूगोल एवं लोक–सम्वेदना से संपृक्त किया। यह ग्रामीण जीवन का लोक था, एक तरह से कहा जाये तो अक्षय ऊर्जा और सक्रिय जीवन का लोक था यह । यह वह लोक था जहां जीवन की दिशा सकर्मक क्रियाओं से तय होती है, बगैर वैचारिक अध्ययन और प्रतिबद्धता के। जहां प्रकृति और मनुष्येतर प्राणियों का भी सानिध्य प्राप्त था जो सहज और नैसर्गिक था। इस लोक में खेती–किसानी की बातें थी । फूल ही नहीं, उनकी कई किस्में थी– अलग–अलग नामों से/ स्थानीय ताल–पोखरे, नदियां थी और थे पहाड़! कहीं 'काल का कवच' और 'धान का कटोरा' था, तो कहीं 'नागकेसरश की खूशबू, तो कहीं 'पुरइन के पात पर पली–बढ़ी दुलारी धिया'। आलोचक परमानन्द श्रीवास्तव का भी ऐसा मानना है की इन कवियों ने लोकरंग का प्रगाढ़ उपयोग करते हुए खाँटी आंचलिक सम्वेदना को अपने समय के यथार्थ की पहचान के लिए मूल्यवान आधार बनाया। अपने लोक–जीवन और ग्रामीण संस्कृति से गहरा जुड़ाव इनकी पहचान को अलग स्वरूप प्रदान करता है। इन कवियों में खासतौर से एकांत श्रीवास्तव, निलय उपाध्याय, बद्रीनारायण, बोधिसत्व, अष्टभुजा शुक्ल एवं नवल शुक्ल के साथ मदन कश्यप और लीलाधर मंडलोई का स्मरण बार–बार याद आता है। इन कवियों ने अपनी आंचलिक बोली–बानी के शब्दों और अछूते ताजे–टटके बिम्बों के कारण हिन्दी की समकालीन कविता को एक नया मोड़ दिया। इनमें सीधे राजनीति और विचारधारा का दखल भले कम हो फिर भी जीवन के राग, कृषि–संस्कृति और देशज संस्कारों से संपृक्त होने के चलते इन कवियों की कविताओं ने हिन्दी कविता के पाठकों को एक सुखद अहसास प्रदान किया । इन कवियों ने अपनी माँ, अपनी जड़ों को बार–बार याद किया है। इनका लोक की तरफ लौटना एक संकल्प और स्वप्न की तरह है।

नवें दशक के कवियों में दो–तीन धाराओं के कवि हैं। दूसरी धारा उन कवियों की है, जो शहरी लोक से जुड़े हैं। ऐसे कवियों में विमल कुमार, संजय चतुर्वेदी, कुमार अंबुज, देवी प्रसाद मिश्र आदि हैं। इन कवियों के यहां भाषा और शिल्प के कई नए प्रयोग मिलते हैं। इनमें बौध्दिक–वैचारिक तत्व की भी प्रमुखता है। एक ओर जहां ग्रामीण लोक–संवेदना से जुड़े कवियों की कविताओं में शिल्प के स्तर पर प्रगीतात्मकता है, तो शहरी जीवन से संपृक्त कवियों में गद्य की आंच और विवरण की बहुलता और विस्तार भी है। तीसरी धारा में वे कवि हैं, जो सामाजिक यथार्थ और संघर्ष की सीधी–सादी अभिव्यक्तियाँ करते हैं। जहाँ नए और हल्के प्रयोगों पर न तो कोई बल है, न ही कोई अतिरिक्त सजगता। प्रताप राव कदम, नासिर अहमद सिकंदर, मोहन कुमार डहेरिया, हरिओम राजोरिया या नरेश चंद्रकर इसी धारा में शामिल हैं।

बहरहाल, ग्रामीण अंचल से जुड़े कवियों में जिस तरह एकांत श्रीवास्तव ने अपनी काव्य भूमि का विस्तार करते हुए भी मूल भूमि को बचाए रखा है, अन्य कवि ऐसा नहीं कर पा रहे हैं। कुछ के यहां सिर्फ दुहराव है, तो कुछ के यहां आंचलिक शब्दों की छौंक–बघार। कभी–कभी तो ऐसे कवियों में कुछ के यहां लोकगीतों के शब्द और मुहावरे जस के तस रख दिए जाते हैं। फिर भी इस पीढ़ी के इन कवियों ने हिन्दी की समकालीन प्रगतिशील धारा की कविता के आकाश में कुछ चमक पैदा की। हालांकि आंचलिक, देशज शब्दों का प्रयोग नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन के साथ–साथ केदारनाथ सिंह की भी कविताओं में है; फिर भी नवें दशक के इन कवियों की कविताओं की भाव–भंगिमाएँ कुछ विशेष हैं। यही 'कुछ विशेष' इन्हें हिन्दी की समकालीन कविता की परंपरा में विशेष महत्व का अधिकारी बनाता है।

सन 1990–95 के बाद के नए कवियों में पवन करण, प्रेमरंजन अनिमेष, संजय कुंदन, आर.चेतन क्रांति, यतींद्र मिश्र, नीलेश रघुवंशी, अनिल सिंह, शिरीष कुमार मौर्य, तुषार धवल आदि हैं।

सन 2000 के बाद आए नए कवियों में व्योमेश शुक्ल, हरे प्रकाश उपाध्याय, कुमार वीरेंद्र, मनोज कुमार झा, निशांत, श्रीधर, अच्युतानंद मिश्र, सुंदरचंद ठाकुर, रवीन्द्र स्वप्निल प्रजापति, उमाशंकर चौधरी, विशाल श्रीवास्तव, अरुण देव, गिरिराज किराडू, विमलेश त्रिपाठी, अरुण आदित्य, अनुज लुगुन, बलराम कांवट, अमित परिहार आदि हैं। अभी सम्भव है, कई नये कवियों के नाम छूट रहे हो। वे तत्काल स्मरण में न आ रहे हो। इन कवियों के आरंभिक दौर की कविताएं सम्भावनायें जगाती हैं।

सन 2000 के बाद हिंदी कविता के परिदृश्य में एक ऐसी पीढ़ी उभरकर सामने आई, जिसने वैष्वीकरण, बाजारवाद, विस्थापन, अस्मिताबोध, स्त्री–अनुभव, दलित चेतना और आदिवासी जीवन जैसे प्रश्नों को नई संवेदना और भाषा के साथ अभिव्यक्त किया। इस दौर में अनुज लुगुन, अनामिका, गीत चतुर्वेदी, मनोज कुमार झा, निशांत, कुमार अंबुज, हरिश्चंद्र पांडेय, अरुण कमल, लीलाधर मंडलोई, अरुण देव, विमलेश त्रिपाठी, सुंदरचंद ठाकुर, योगेश शुक्ल, हरि प्रकाश उपाध्याय, बलराम कांवट, अमित पांडेय, गौरव सोलंकी, प्रज्ञा रावत, नीलेश रघुवंशी, कात्यायनी, अर्चना वर्मा आदि कवि–कवयित्रियाँ निरंतर रचनारत रही हैं। इनमें से कुछ वरिष्ठ पीढ़ी से आते हुए भी 21वीं सदी में सक्रिय हस्तक्षेप करते दिखाई देते हैं, जबकि कुछ बिल्कुल नई पीढ़ी के प्रतिनिधि हैं। इन कवियों की रचनाओं में समकालीन जीवन की विडंबनाएँ, डिजिटल युग की जटिलताएँ, राजनीतिक अंतर्विरोध, स्त्री और हाशिए की अस्मिता तथा लोक–संस्कृति की पुनर्पहचान जैसे मुद्दे प्रमुख रूप से उभरते हैं। इस प्रकार 2000 के बाद की समकालीन हिंदी कविता बहुस्वरात्मक, बहुस्तरीय और वैचारिक रूप से अधिक विविध दिखाई देती है, जो 2026 तक भी सक्रिय और प्रभावी रूप में साहित्यिक विमर्श का हिस्सा बनी हुई है।

जो भी हो, 21वीं शताब्दी का दूसरा दशक शुरू हो चुका है। हिंदी की समकालीन कविता के परिदृश्य पर एक साथ चार–पाँच पीढ़ियों के कोई 100 से अधिक कवि सक्रिय हैं। इन कवियों की कविताएं साहित्यिक पत्र–पत्रिकाओं में छपती रहती है। इनके देर सबेर काव्य–संग्रह भी छपकर सामने आते रहते हैं। अब हिन्दी में इनका एक पाठक वर्ग भी हैं इनके अलावा भी असंख्य कवि कविता के परिदृश्य पर सक्रिय हैं। आज की हिन्दी की समकालीन कविता की बहुरंगी और इन्द्रधनुषी छटा को देखकर कहा जा सकता है कि उसमें सशक्त और मुख्यधारा उन कवि की है, जो कविता के माध्यम से प्रतिरोध की ज़मीन तैयार कर रहे हैं। ये कवि पूंजी के भूमंडलीकरण, नव उदारवाद और निजीकरण के दौर में कविता के जरिए एक सार्थक हस्तक्षेप कर रहे हैं। यही चीज इन्हें समकालीन भी बनती है। कुँवर नारायण, केदारनाथ सिंह से लेकर अरुण कमल, राजेश जोशी, कुमार अम्बुज, एकान्त श्रीवास्तव, बद्रीनारायण, बोधिसत्व और कुमार वीरेन्द्र तक कि पीढ़ियों के कवियों की कविताओं को पढ़कर हिंदी कविता के भविष्य के प्रति आष्वस्त हुआ जा सकता है।

निष्कर्ष

समकालीन हिंदी कविता को किसी निश्चित कालखंड, प्रवृत्ति या वैचारिक खाँचे में सीमित करना उसकी मूल प्रकृति के साथ अन्याय होगा। समकालीनता वस्तुतः एक गतिशील चेतना है, जो समय के साथ–साथ निरंतर रूपांतरित होती रहती है। यह चेतना न तो केवल वर्तमान की उपस्थिति मात्र है और न ही अतीत से पूर्ण विच्छेद; बल्कि यह अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच चलने वाला एक जीवंत संवाद है। इसी संवाद में कविता अपने समय की पीड़ा, संघर्ष, अस्मिता और आकांक्षाओं को अर्थवत्ता प्रदान करती है।

दार्शनिक दृष्टि से समकालीन कविता समय के 'होने' (being) और 'बनने' (becoming) के द्वंद्व में स्थित दिखाई देती है। यह कविता न केवल यथार्थ का प्रतिरूप है, बल्कि यथार्थ की आलोचना और पुनर्रचना का माध्यम भी है। इस संदर्भ में समकालीन कवि एक तटस्थ दर्शक नहीं, बल्कि सक्रिय हस्तक्षेपकर्ता के रूप में उपस्थित होता है। वह अपने समय की संरचनाओं—राजनीति, सत्ता, बाजार, भाषा और संस्कृति—के भीतर छिपे अंतर्विरोधों को उजागर करता है और पाठक को प्रश्नाकुल करता है । शोधपरक दृष्टि से देखा जाए तो समकालीन हिंदी कविता की सबसे बड़ी विशेषता उसकी बहुलता है। इसमें एक साथ अनेक स्वर, अनेक संवेदनाएँ और अनेक वैचारिक दिशाएँ सह–अस्तित्व में दिखाई देती हैं। जनवादी, प्रगतिशील, स्त्रीवादी, दलित, आदिवासी और लोक–संवेदनात्मक धाराएँ समकालीन कविता को किसी एक केंद्र से मुक्त करती हैं। यह बहुकेंद्रीयता समकालीन कविता को लोकतांत्रिक बनाती है, जहाँ कोई एक स्वर अंतिम या सर्वमान्य नहीं रह जाता।

समकालीन कविता की भाषा भी इसी बहुलता की साक्षी है । यहाँ शुद्धतावादी भाषिक आग्रहों के स्थान पर जीवन से उपजी बोलियाँ, लोक–भाषाएँ और रोज़मर्रा के अनुभवों की भाषा प्रवेश करती है। यह भाषा कविता को अकादमिक संकीर्णता से बाहर निकालकर सामाजिक संवाद का माध्यम बनाती है । इसी कारण समकालीन कविता पाठक से केवल सौंदर्यबोध की नहीं, बल्कि नैतिक और वैचारिक सहभागिता की भी अपेक्षा करती है । यह भी उल्लेखनीय है कि समकालीन हिंदी कविता बाजार, मीडिया और पुरस्कार–संस्कृति के दबावों से अछूती नहीं रही है । फिर भी इसके भीतर प्रतिरोध की वह क्षमता बनी हुई है, जो कविता को केवल उपभोग की वस्तु नहीं बनने देती । समकालीन कविता प्रत्यक्ष नारों के स्थान पर सूक्ष्म संकेतों, विडंबनाओं और प्रश्नवाचक संरचनाओं के माध्यम से सत्ता और व्यवस्था से संवाद करती है।

अंततः कहा जा सकता है कि समकालीन हिंदी कविता अपने समय का मात्र दस्तावेज़ नहीं, बल्कि समय की आलोचनात्मक चेतना है। यह कविता न केवल वर्तमान को समझने में सहायता करती है, बल्कि भविष्य के लिए एक वैचारिक और सांस्कृतिक आधार भी तैयार करती है। इसी अर्थ में समकालीन कविता साहित्यिक परंपरा का विस्तार भी है और उसका सतत पुनर्पाठ भी। यह कविता हमें यह विष्वास दिलाती है कि जब तक समाज में प्रश्न, संघर्ष और संवेदना जीवित हैं, तब तक कविता भी अपने नए–नए रूपों में समकालीन बनी रहेगी।

संदर्भ

1. जोशी, राजेश — आलोचना के संदर्भ, प्रथम संस्करण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
2. डबराल, मंगलेश — नई कविता की भूमिका, संशोधित संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
3. मंडलोई, लीलाधर — समकालीन कविता और समय, प्रथम संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2005
4. गुप्त, अंशु — हिंदी कविता की वैचारिकी, प्रथम संस्करण, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
5. सक्सेना, नरेश — कविता और समाज, प्रथम संस्करण, आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2001?
6. शुक्ल, विनोद कुमार — कविता का बदलता परिदृश्य, द्वितीय संस्करण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
7. त्रिपाठी, नामवर — कविता के नए प्रतिमान, संशोधित संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995